Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
Available online at : www.gisrrj.com
OPEN ACCESS
© 2023 GISRRJ | Volume 6 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

राज्य की उत्पत्ति के विकास मूलक सिद्धान्त : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ0 विजय कुमार
विभाग प्रभारी एवं असि0 प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, इ0 सि0 स0 सं0 से0 राजकीय महाविद्यालय, पचवस, बस्ती।

Article Info
Volume 6, Issue 6

Page Number : 11-15

Publication Issue :
November-December-2023

Article History
Accepted : 10 Nov 2023
Published : 30 Nov 2023

शोध सारांश – समाज में राज्य की उत्पत्ति लोक कल्याण और न्याय प्रदान करने के लिये हुई थी तथा इस दृष्टि से राजा और प्रशासनिक व्यवस्था की उत्पत्ति सुनिश्चित हुई। समाज में अराजकता की स्थिति मात्स्यन्याय कहलाती है। अराजकता के समय सबल लोग निर्बलों को यातनायें देते हैं, भावनाओं का कोई अर्थ रह जाता, नैतिकता की उपेक्षित होती है, असामाजिक लोग; बलपूर्वक दूसरों की सम्पत्तियों पर कब्जा करते हैं, अच्छे लोगों का दमन व बुरे लोगों की उन्नति होती है, अपने पराये की पहचान करना मुश्किल हो जाता है, कृषि व व्यापार का विनाश हो जाता है इत्यादि। ऐसे में जब न्याय और अन्याय में विभेद समाप्त हो जाता है तब कुछ ऐसी सर्वोच्च शक्तियों की आवश्यकता होती है जो ऐसी स्थिति को नियन्त्रित कर सके। प्राचीन भारतीय विचारक राजनीति को दर्शन (नीति) शास्त्र का अंग मानते थे। अतएव प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रों में न केवल मानव–जीवन से सम्बन्धित अनेक तथ्यों व सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है वरन् राज्य, उसकी उत्पत्ति, प्रकृति तथा मानव जीवन में राज्य की आवश्यकता आदि का भी वर्णन मिलता है। राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं– दैवी सिद्धान्त, सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त, युद्धमूलक सिद्धान्त, शक्ति अथवा प्रभाव सिद्धान्त, ऐतिहासिक सिद्धान्त, विकास–मूलक सिद्धान्त। विकास मूलक सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति का वर्तमान समय में सर्वाधिक मान्य तथा सन्तोषजनक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। राज्य का आरम्भ मनुष्य जीवन के साथ–साथ अर्थात् परिवार के रूप में हुआ । वास्तव में राज्य का अंकुर संयुक्त कुटम्ब प्रणाली के रूप में उत्पन्न हुआ और शनैः शनै विकसित होता हुआ अपनी पूर्णता की अवस्था तक पहुंचा। प्राचीन भारत में राज्य ऋग्वैदिक काल में एक महत्वपूर्ण संस्था बन चुकी थी। यूरोपीय विचारकों की भाँति प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रकारों ने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व नैतिक नियमों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का वर्णन किया है। परन्तु कालान्तर में अनेक दोषों का समावेश हो जाने के कारण, समाज में भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी तथा राज्य की उत्पत्ति सुनिश्चित हुई। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख न करके राजा की उत्पत्ति को ही

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

उसका आधार मान लिया है, उन्होंने राज्य एवं राजा की उत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं किया।
ज्यों–ज्यों समाज विकसित हुआ, त्यों–त्यों पारिवारिक शासन के आधार पर राजकीय शासन का विकास हुआ। प्राचीन ग्रन्थों में इस राजकीय शासन के विकास के प्रथम चरण अर्थात राज्य अथवा राजा की उत्पत्ति से सम्बन्धित अनेक प्रकार के मत मिलते हैं। इन मतों अथवा सिद्धान्तों में यद्यपि किंवदन्तियाँ, दन्तकथायें एवं परम्परागत विश्वास काफी मात्रा में है परन्तु इनका विवरण ज्ञान एवं तर्क पर आश्रित है तथा अनेक तथ्यों की पुष्टि ऐतिहासिक घटनाओं से भी हो जाती है।

कूट शब्द – विशपति, स्वयंमुच्च, वैराज्य, गहिपत्य, उत्क्रान्ति, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आमन्त्रण, स्तरीकरण।

प्राचीनतम समय में जब लोग किसी निश्चित स्थान पर बसे तब परिवार के आधार पर उनका संगठन हुआ। परिवार में वृद्धि होती गई। उनमें अपनी मातृभूमि जिस पर वे जन्में व रह रहे थे, के प्रति मोह उत्पन्न हुआ। निश्चित भू–भाग पर परिवारों के एक साथ रहने तथा परस्पर किसी न किसी रूप में एक–दूसरे की आवश्यकता के मध्य उनके पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट होते चले गये। इस प्रकार ग्राम का विकास हुआ। संयुक्त प्रणाली से राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादक डॉ0 अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार संयुक्त कुटुम्ब में जिस प्रकार गृहपति का आदार किया जाता था उसी प्रकार कुटुम्बों की संख्या बढ़ने के साथ मुखिया, विशपति, जनपति आदि की नियुक्ति हुई तथा वे भी इसी सम्मान के भाजन बने; यही क्रम बढ़ता गया और इकाइयाँ विस्तृत होती गयी तथा सरदार और राजा ने इनका स्थान लिया तथा उन्होंने भी वही आदर और अधिकार प्राप्त किया।[1] कौटिल्य के अनुसार व्यवस्था के अभाव में मात्स्यन्याय की स्थिति में बलवान मनुष्य निर्बलों का शोषण उसी प्रकार करते हैं जैसे बड़ी मछलियॉ छोटी मछलियों को खा जाती हैं। बलवानों द्वारा निर्बलों से छुटकारा पाने के लिए समाज में विधान की स्थापना हुई, जिसको कार्यान्वित करने का दायित्व परिवार के मुखिया से लेकर समाजिक संगठन के नेतृत्व कर्ताओं की हुई। मनुष्य के विकास के साथ कृषि, पशुपालन, निजी सम्पत्ति, परिवार, वर्ण व जाति का निरन्तर विकास हुआ जिसकी रक्षा का आवश्यकता के दृष्टिगत राज्य संस्था की उत्पत्ति को प्रोत्साहन मिला।

राज्य की ईकाईयों की उत्पत्ति के जटिलताओं के सम्बन्ध में डा० परमात्मा शरण ने अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा है कि इस (समाज में) जटिलता का कारण मनुष्यों की बढ़ती हुई जनसंख्या, उनके बढ़ते हुये क्रिया–क्षेत्र और इसके परिणाम स्वरूप उनके बढ़ते हुये विभिन्न स्वार्थ और आवश्यकतायें होती हैं। इन पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता अपने विकास की जिस अवस्था में होती है उसी अवस्था के अनुकूल लोगों के पारस्परिक स्वार्थ–विरोध के सुलझाने के लिये किसी साधन की आवश्यकता होती है। जटिलता के विकास की जैसी अवस्था होती है उसी के अनुसार एक या अधिक स्वयंमुच्च या चुने हुये लोग इस स्वार्थ–विरोध का काम लेते हैं यही उस अवस्था के अनुकूल राज्य–संस्था होती है। लोगों के विकास की अवस्था के अनुसार इस प्रकार के लोगों का मुखिया बन जाना उस समय के लिये आवश्यक होता है। ज्यों–ज्यों समाज अधिकाधिक, अर्थात लोगों के सम्बन्ध अधिकाधिक जटिल होते चले जाते हैं, त्यों त्यों राज्य

संस्था भी अधिकाधिक जटिल होती चली जाती है। अन्त में राज्य लम्बे समय के बाद अपनी पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[2]

प्राचीन भारत में आर्यों के सामाजिक संगठन का आधार परिवार था, जिसका व्यापक रूप कुल था; कुलों से मिलकर ग्राम तथा ग्रामों के समूह से विशः तथा विशों के समूह से जन बने, जिनके मुखिया क्रमशः कुलपति, ग्रामपति, विशःपति और जनपति कहलाये।[3] अथर्ववेद के आठवें काण्ड के दसवें सूक्त के पहले तेरह मंत्रों में राज्य के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को बताया गया है। इसके अनुसार सर्वप्रथम विराज (या वैराज्य अर्थात् राज्य विहीन अवस्था के अन्तर्गत न शासक था और न शासित।[4] इस अवस्था में सभी भयभीत थे अतएव वे परिवारवाद की ओर अग्रसर हुये और 'गहिपत्य' का पद सृजित हुआ। इस अवस्था को उत्क्रान्ति (विकास) कहते हैं। शनैः शनैः 'आहवनीय' अवस्था आई जिसमें परिवार एक–दूसरे से अधिकाधिक कलह की ओर प्रवृत्त होने लगे, तब कुछ परिवारों ने मिलकर पंचायत बना ली तथा पंचायत के शासन में रहकर अपनी उन्नति और रक्षा के लिये उपाय किये। जनसंख्या की वृद्धि के साथ–साथ लोगों के स्वार्थों और पंचायतों की संख्या में बढ़ोत्तरों होती गई और इन पंचायतों के आपसी विरोध को सुलझाने के लिये पंचायतों में एक–एक चतुर और बली नेता (नायक या मुखिया) बने। इस प्रकार 'दक्षिणाग्नि' अवस्था आई ।

जनसंख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ–साथ न केवल दक्षिणग्नियों की संख्यायें बढ़ी, अपितु व्यापार–वाणिज्य, उद्योग–धन्धों और अन्य क्षेत्रों में भी उन्नति हुई। इस प्रकार समाज अत्याधिक जटिल हो गया। इसके विभिन्न अंगों और घटकों के मनोभावों को समझने तथा समाज में संतुलन बनाये रखने के लिये समाज के विभिन्न वर्गों से चुने हुये लोगों की एक संस्था बनी, जो 'सभा' कहलाई। सभा के उपरान्त समिति की अवस्था आई जिसके सदस्यों की योग्यतायें सभा के सदस्यों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। सभा और समिति प्रतिनिधि संस्थायें थी। कालान्तर में इन्हें भी संचालित करने के लिये नायक की आवश्यकता पड़ी जिसने शनैः शनैः अपना प्रभाव एवं शक्ति बढ़ाई और राज्य का सार्वभौम शासक बन गया। इस अवस्था को 'आमन्त्रण' कहते हैं क्योंकि इसमें विभिन्न देशों को आमन्त्रित किया (बुलाया) जाता था।[5] शामशास्त्री ने इस मत का समर्थन करते हुये लिखा है कि आर्य परिवारों का संगठन पितृप्रधान था।[6] नरेन्द्र नाथ के मतानुसार सम्भवतः मानव समाज की सभी शाखायें संयुक्त परिवारों से विकसित न हुई हों परन्तु आर्यो में सर्वत्र परिवार का मुखिया ही राजनीतिक अध्यक्षता तक उठ सका।[7]

राज्य की उत्पत्ति समाज के इतिहास में एक गुणात्मक परिवर्तन का सूचक है क्योंकि राज्य अनेकों स्तरों पर होने वाले परस्पर सम्बद्ध श्रृखंलाबद्ध परिवर्तनों का परिणाम होता है। राज्य की स्थापना के पश्चात् ऐसी योजनायें कार्यान्वित होने लगी जिनमें बहुत बड़ी संख्या में मानव–शक्ति की आवश्यकता होती थी। इस प्रणाली में राज्य सामूहिक भू–स्वामी था अतः वह श्रेष्ठतर समुदाय था। आधुनिक कालीन विद्वान[8] राज्य की उत्पत्ति के लिये स्तरीकरण को आवश्यक शर्त मानते हैं क्योंकि समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित होता है तथा ये विभाजित समुदाय आंतरिक संघर्षो में लिप्त रहते हैं। इनमें समझौते के लिये या तो किसी प्रकार की सन्धि की आवश्यकता होती है अथवा इनके बीच किसी सशक्त सभ्रांत वर्ग का विकास होता है। राज्य की उत्पत्ति में सामाजिक स्तरीकरण को एक शक्ति मानने वाले कुछ विद्वानों[9] ने स्तरीकरण में शहरी केन्द्रों और व्यापार की भूमिका पर जोर दिया है। राज्य और शासन में भेद है और राज्य और समाज में भी

भेद है। राज्य के कार्य शासन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। इनमें नीति–निर्धारण महत्वपूर्ण है। यह काम राजनीतिक दृष्टि से संभ्रात व्यक्ति करते हैं।[10] अतएव राज्य की उत्पत्ति से आशय राजा (शासक) की उत्पत्ति से सम्बद्ध होता है।

राज्य तथा समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति होता है। यूनानी विचाराधारा के अनुसार मानव–जीवन का अन्तिम और उच्चतम लक्ष्य राज्य का विकास करना है।[11] जबकि भारतीय विचारधारा में मोक्ष को जीवन का उच्चतम आदर्श माना जाता है।[12] इन्हीं भिन्न लक्ष्यों के कारण यूनानी नीति का मूल उद्देश्य व्यक्ति को राज्य निर्माण की दिशा में प्रेरित करना है।[13] तथा भारतीय नीति का मूल उद्देश्य मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करना है।[14] भारतीय नीति का लक्ष्य निस्संदेह मोक्ष के रूप में आध्यात्मिक उपलब्धि है किन्तु भारतीय विचारधारा में जीवन में आने वाली भौतिक उपलब्धियों को आध्यात्मिक जगत तक पहुंचने का एक माध्यम माना गया है।[15] इसी कारणवश मोक्ष प्राप्ति को व्यक्तिगत उपलब्धि स्वीकार करते हुये भी समाज और राज्य जैसी संस्थाओं का विकास कर भारतीय नीति व्यक्ति को एक सामाजिक व्यक्तित्व भी प्रदान करती है।[16] राज्य की अवधारणा के अन्तर्गत यूनानी विचारधारा में राज्य को मानव जीवन की परम परिणति माना गया है। यथा– अरस्तु ने मानव को 'राजनीतिक पशु'।[17] की संज्ञा दी है। परन्तु भारतीय विद्वानों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जो मनुष्य को उसके जीवन के उच्चतम लक्ष्य के योग्य बनाने का एक साधन मात्र है। राज्य अपने आप में स्वयं कोई लक्ष्य नहीं है।[18]

प्राचीन भारत में आर्यों के मध्य राज्योत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त की पर्याप्त प्रबलताएं रही हैं। प्रारम्भ से ही संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली प्रबल रही है। पीढ़ियों तक परिवार के सदस्य एक साथ रहते थे। कुटुम्ब के मुखिया को परिवार संचालन और व्यवस्था से सम्बन्धित असीमित अधिकार प्राप्त थे। वह कुटुम्ब के किसी भी व्यक्ति को बेचने, बन्धक रखने, दण्ड देने आदि के अधिकार से युक्त था। यद्यपि व्यवहार में ऐसा नहीं होता था। परिवार में मेल–जोल और सौहाद्र का माहौल होता था, किन्तु सिद्धान्ततः परिवार का मुखिया ऐसे अधिकारों से युक्त था। ऋग्वेद की एक ऋचा में कहा गया है कि पिता की आज्ञा से अपराधी पुत्र को बेचा जा सकता था और उसकी आंखों तक फोड़ी जाती थी। इस तरह प्रागैतिहासिक युगीन समस्त आर्यजातियों के कुटुम्ब में गृहपति को इम सीमा तक अधिकार और पद प्रदत्त थे कि वह राजा के सदृश लगता है। कालान्तर में राजाओं के सार्वभौम प्रभुसत्ता सम्पन्न सम्राट बनने की महत्त्वाकांक्षा प्रायः महाजनपदों और जनपदों के अधिपतियों में दृष्टिगत होती है। यह श्रंखला कुटुम्ब से ही विकसित होकर हुई। राज्य की महत्त्वाकांक्षाएँ एवं अवश्यकताएं, राज्य को साम्राज्यवादी दिशा की ओर ले गयीं। प्राचीन समय से ही भारत की भौगोलिक विविधता ने इसकी राजनैतिक विचारधारा एवं प्रणालियों को प्रभावित किया। इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण देश में विभिन्न प्रकार के राज्य अस्तित्व में आये। विशाल साम्राज्यों की साम्राज्य विस्तार नीति भी राज्यों के प्रकारों को समाप्त नहीं कर सकी थी। वैदिक ग्रन्थों में अनेक प्रकार के राज्यों का संकेत मिलता है। प्राचीन समय में राजतन्त्र राज्य का प्रमुख आधार था। यह कई रूपों में प्रचलन में था। आचार्य कौटिल्य ने अपनी कृति अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा ही राज्य है। अति प्राचीन समय (राज्य के उत्पत्ति की प्रारम्भिक अवस्था) में राजतंत्र ही राज्य का मूल आधार था। अतः राज्य के उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त राजा की उत्पत्ति पर ही निर्भर रहा। सामाजिक व्यवस्था एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिए राज्य का बीजारोपण प्राचीन भारत में हुआ जिसके क्रमिक विकास के फलस्वरूप राजदण्ड स्थापित हुआ जोकि मनुष्य को न्याय

मार्ग पर चलने हेतु बाध्य करने में सफल रहा। विकास के विभिन्न मानदण्डों की निरन्तर स्थापना के साथ राज्य के दायित्व एवं अधिकार निरन्तर बढ़ते रहे जिसके परिणामस्वरूप राज्य नामक संस्था का निरन्तर विकास होता रहा। स्थानीय संगठन ;जनपद राज्य बनें, जनपद से महाजनपद बनें और राज्य की उत्पत्ति का मूल क्रमिक विकास ही रहा। इस विकास में प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों ने मार्गदर्शन के साथ–साथ राज्य संचालन में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया जिसका प्रभाव मौर्य एवं गुप्त राजाओं के प्रशासनिक तन्त्र से लेकर राजपूतकालीन शासन में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

सन्र्दभ

1. डॉ 0 शिव स्वरूप सहाय, हिन्दू राज्य और समाज तथा ए०एस० अलतेकर, स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट इन ऐनशेन्ट इण्डिया, पृष्ठ 28–29
2. डॉ0 परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थायें, पृष्ठ – 267
3. अथर्ववेद, 8, 10, 1–3
4. 'न वैराज्यं न राजसीन्न दंडो न च दांडिकः'। अर्थात प्राकृतिक अवस्था के प्रारम्भिक चरण में राज्य नामक संस्था नहीं थी। – शान्तिपर्व, 59, 14
5. कौटिल्य के अनुसार वैराज्य कहलाने वाले कुछ राज्यों में राजपद नहीं था और यहाँ के लोग अपना पराया नहीं जानते थे–'वैराज्यं तु जीवतः परस्याच्छिद्य नैतन्मम इति मन्यमान।' अर्थशास्त्र 7,1 – 2, के. पी. जायसवाल, हिन्दु पॉलिटी, पृष्ठ 83 से उद्धत ।
6. प्रियव्रत वेदवाचस्पीत, वैदिक राजनीति में राज्य की भूमिका, पृष्ठ–1–3
7. आर. शामशास्त्री, इवोल्यूशन ऑफ इण्डियन, पॉलिटी, पृष्ठ–1–10
8. एन.एन. लॉ, ऑस्पेक्ट्स ऑफ ऐन्शेन्ट इण्डियन पॉलिटी, पृष्ठ 103
9. रोमिला थापर, मंगलनाथ सिंह (अनुवादक), वंश से राज्य तक, ग्रन्थ शिल्पी नई दिल्ली,
10. प्रथम हिन्दी संस्करण, 1997
11. आर. मैक ऐडम्स, दि एवोलूशन ऑफ अर्बन सोसायटी, 1966, शिकागो ।
    पी. लायड, 'पोलिटिकल स्ट्रक्चर्स एण्ड दी डिस्ट्रिव्यूशन ऑफ पावर, ए. एस. ए. मोनोग्राफ 2, लन्दन, 1965
12. सैबाइन, जी.एच., ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थियरी, (तृतीय भारतीय संस्करण), कलकत्ता, 1961, पृष्ठ 12–13.
13. गुप्ता, एस.एन., इन्डियन कॉसेप्शन ऑफ वैल्यू, पृष्ठ–3; पाण्डे, जी.सी., मूल्य मीमांसा,
14. पृष्ठ–4
15. पाण्डे, जी.सी. का लेख, ऑन इथिकल नोशन्स – ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न कॉन्सपेक्ट्स, 51, 1965;
16. जौहरी, एम0, इथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स इन एन्शिएन्ट इण्डिया, पृष्ठ–98–100
17. मैत्रा, एस.के., द इथिक्स ऑफ द हिन्दूज, कलकत्ता, 1963, पृष्ठ 234–35 10916. बनर्जी, एन.वी., द स्पिारट ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, दिल्ली, 1974, पृष्ठ – 248
18. बार्कर, ई0, द पॉलिटिक्स ऑफ अरिस्टाटिल , ऑक्सफोर्ड, 1946); के.एस.
19. मूर्ति (संपा), पॉलिटिक्स एण्ड फिलॉसफी, लन्दन, 1967, पृष्ठ–135
20. बी. पी. वर्मा, ह्यूमन पर्सनालिटी एण्ड पॉलिटिक्स, के. एस. मूर्ति (संपा.) पॉलिटिक्स एण्ड फिलॉसफी, लन्दन, 1967, पृष्ठ 139